ओ३म्





# गीता में
# ार्जुन संवाद

वद्यानन्द सरस्वती

ओ३म्

# मूल गीता
# में
# श्रीकृष्णार्जुन संवाद

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

प्रकाशक :
आर्य प्रकाशन
८१४, कूण्डेवालान अजमेरी गेट
दिल्ली-११०००६



संस्करण : प्रथम १९९३
आर्यसमाज स्थापना दिवस : संवत् २०५०

मूल्य : ३·००

मुद्रक :
पण्डित कम्पोजिंग एवं प्रिंटर्स
सुभाषपार्क एक्स०, नवीन शाहदरा,
दिल्ली-११००३२

# मूल गीता में श्रीकृष्णार्जुन संवाद

गीता में जो कुछ कहा गया है, वह श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच युद्धक्षेत्र में हुए संवाद की, भीष्म की मृत्यु के पश्चात् युद्धक्षेत्र से लौटने पर, संजय द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट है। इस रिपोर्ट का प्रतिपाद्य क्या है ? किसी भी ग्रन्थ, प्रकरण अथवा वाक्य के अर्थ का निर्णय करने अथवा उसका तात्पर्य जानने के लिए प्राचीन मीमांसकों का एक सर्वमान्य श्लोक है—

**उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।**
**अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य निर्णये ।।**

इस प्रकार किसी ग्रन्थ अथवा लेख के तात्पर्य का निश्चय करने में उक्त श्लोक में कही गई सात बातें सहायक होती हैं—उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति।

इनमें सबसे पहली बात 'उपक्रमोपसंहारौ' अर्थात् ग्रन्थ का आरम्भ और अन्त है। कोई भी मनुष्य किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए अथवा किसी हेतु विशेष से ग्रन्थ लिखना आरम्भ करता है और उस प्रयोजन अथवा हेतु की सिद्धि होने पर ही उसे समाप्त करता है। अतः ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्धारण करने में सबसे पहले उसके उपक्रम (आरम्भ) तथा उपसंहार (अन्त) पर ही विचार करना चाहिए। आद्यन्त के आधार पर तात्पर्य का ज्ञान हो जाने पर यह देखना चाहिए कि उस ग्रन्थ में 'अभ्यास' अर्थात् बार-बार कथन किस बात

का किया गया है। ग्रन्थकार अपने अभीष्ट के समर्थन में किंचिद् भिन्न् शब्दों में अथवा अनेक प्रकार के तर्क व प्रमाण प्रस्तुत करके, बार-बार अपने मन के भाव को व्यक्त करता है और हर बार कहता जाता है—'इसलिए (तस्मात्) ऐसा होना या करना चाहिए।'

तात्पर्य का निर्णय करने में चौथा साधन है—'अपूर्वता' अर्थात् प्रतिपाद्य विषय का वैशिष्ठ्य अथवा उसका लीक से हटकर होना। जहाँ सामान्य लौकिक बुद्धि का प्रवेश न हो, शास्त्र प्रवृत्ति की सफलता ऐसे ही अर्थ में होती है। कोई भी ग्रन्थकार जब ग्रन्थ लिखने बैठता है तो वह चाहता है कि मैं लोगों को कोई ऐसी बात बतलाऊँ जो मुझसे पहले अन्य किसी ने न कही हो। मुख्य प्रतिपाद्य अर्थ की महत्ता के प्रदर्शनार्थ किया गया उपयुक्त कथन 'अर्थवाद' कहलाता है। यह निश्चय हो जाने पर भी कि हमें मुख्यतः किस बात को सिद्ध करना है, कभी-कभी ग्रन्थकार प्रशंसानुसार दूसरी अनेक बातों का भी वर्णन करता है, जैसे प्रतिपादन के प्रवाह में दृष्टान्त देने, समानता व भेद दिखलाने, पर-मत के दोष बतलाकर स्वमत को दृढ़ करने के लिए अलंकारादि से काम लेता है; विषयान्तर प्रतीत होने पर भी ऐसा अपने सिद्धान्त की महत्ता दिखलाने या अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए किया जाता है। यह सर्वथा सत्य नहीं होता। इस प्रकार का उल्लेख 'अर्थवाद' कहलाता है। स्तुति या प्रशंसा की इन अर्थ-वादात्मक बातों को छोड़कर ग्रन्थकार के वास्तविक तात्पर्य का निश्चय होता है। जिस विषय में प्रकरण का तात्पर्य है, उसके अनुसार आचरण करने पर उससे होने वाली उपलब्धि को 'फल' कहते हैं। अमुक फल की प्राप्ति हो, इसी हेतु से ग्रन्थ लिखा जाता है। इसलिए यदि घटित परिणाम पर ध्यान दिया जाय तो उससे ग्रन्थकार का आशय या तात्पर्य ठीक-ठीक व्यक्त हो जाता है।

किसी विशेष बात को सिद्ध करने के लिए बाधक प्रमाणों का खण्डन करते हुए साधक, प्रमाणों को युक्तिपूर्वक प्रस्तुत करना

'उपपत्ति' अथवा उपपादन कहलाता है। उपक्रम तथा उपसंहाररूप आद्यन्त के दो छोरों का निश्चय हो जाने पर बीच का मार्ग अर्थवाद और उपपत्ति की सहायता से निकल आता है। अर्थवाद से यह मालूम हो जाता है कि कौन-सी बात मुख्य है और कौन-सी आनुषंगिक। तब उत्पत्ति की सहायता से आनुषंगिक की उपेक्षा करके लेखक मुख्य के उपपादन में प्रवृत्त होता है और पाठक उसके अन्तिम तात्पर्य को ग्रहण करने में समर्थ होता है।

मीमांसकों द्वारा निर्धारित ये नियम सार्वभौम एवं सार्वकालिक होने से प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः सर्वमान्य हैं। परन्तु जब एक बार किसी की दृष्टि साम्प्रदायिक या संकुचित हो जाती है तब वह किसी न किसी रीति से यही सिद्ध करने का यत्न किया करता है कि प्रमाणभूत धर्मग्रन्थों में उसी के सम्प्रदाय का वर्णन किया गया है। इस प्रकार जब वे पहले से निश्चित किये हुए अपने ही सम्प्रदाय के अर्थ को सत्य मानने लगते हैं, और यह सिद्ध कर दिखाने का यत्न करने लगते हैं कि सब धार्मिक ग्रन्थों में वही अर्थ प्रतिपादित किया गया है, तब वे इस बात की परवाह नहीं करते कि हम मीमांसाशास्त्र के नियमों की अवहेलना कर रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में इस प्रकार की साम्प्रदायिक प्रवृत्ति का परित्याग करके मीमांसकों द्वारा निर्दिष्ट उपक्रम, उपसंहार आदि के द्वारा ही गीता के तात्पर्य को प्रस्तुत किया गया है।

महाभारत युद्ध के प्रारम्भ होने से पहले जब दोनों पक्षों की सेनाएँ यथास्थान खड़ी हो गईं तो भीष्मपितामह ने युद्ध शुरू करने के लिए शंख बजा दिया। सैनिक एक दूसरे पर शस्त्र चलाने लगे। इतने में अर्जुन को वैराग्य हो गया और वह ब्रह्मज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें बघारने लगा और विमनस्क हो संन्यास लेने को तैयार हो गया। तब उसे अपने क्षात्रधर्म में प्रवृत्त करने के लिए श्रीकृष्ण ने 'गीता' का उपदेश दिया। जब वह दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा होकर वह

देखने लगा कि इस युद्धक्षेत्र में मुझे किनसे लड़ना होगा। तब उसे वहाँ वृद्ध भीष्मपितामह, गुरु द्रोणाचार्य, गुरुपुत्र अश्वत्थामा, विपक्षी बने हुए अपने ही बन्धु-बान्धव कौरवगण तथा अन्य सम्बन्धी, अनेक राजा और राजपुत्रों के अतिरिक्त लाखों सैनिक, हाथी-घोड़े आदि दीख पड़े। यह सब देखकर वह मन में सोचने लगा--एक छोटे से हस्तिनापुर के राज्य के लिए उसे इन सबको निर्दयतापूर्वक मारना पड़ेगा और अपने कुल का नाश करना पड़ेगा। ऐसे युद्ध की विभीषिका और उसके कारण होनेवाले महत् पाप के भय से उसका मन एकदम क्षुब्ध हो उठा। एक ओर उसे क्षात्रधर्म ललकार कर कह रहा था—युद्ध कर! दूसरी ओर से पितृभक्ति, गुरुभक्ति, बन्धुप्रेम, सुहृत्प्रीति आदि अनेक धर्म उसे बलात् पीछे खींच रहे थे। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि एलेक्जेण्डर पोप (Alexander Pop) ने एक स्थान पर लिखा है—

Two things in human nature reign,
Passion to urge and reason to restrain.—Essay on Man

भावना मनुष्य को आगे की ओर धकेलती है और तर्क उसे नियन्त्रित करता है। अर्जुन के लिए यह बहुत बड़ा संकट था। यदि लड़ाई करे तो अपने ही गुरुजनों और बन्धु-बाँधवों की हत्या करके महापातक का भागी बने। और यदि लड़ाई न लड़े तो क्षात्रधर्म से च्युत समझा जाय—इधर कुआँ तो उधर खाई। यद्यपि अर्जुन कोई साधारण पुरुष नहीं था, तथापि धर्माधर्म के इस महान् संकट में पड़कर बेचारे का मुँह सूख गया, शरीर पर रोंगटे खड़े हो गये, धनुष हाथ से गिर पड़ा और वह 'मैं नहीं लड़ूँगा' कहकर चुपचाप रथ के पिछले भाग में बैठ गया। तब वह मोहवश हो कहने लगा—'पिता-सम पूज्य गुरुजनों जाकर, भाई-बन्धुओं और मित्रों को मारकर और इस प्रकार कुल का सर्वनाश करके राज्य का एक टुकड़ा पाने से तो टुकड़े माँग-माँगकर जीवन-निर्वाह करना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। चाहे मेरे शत्रु मुझ निहत्थे की गर्दन उड़ा दें, परन्तु मैं अपने स्वजनों की हत्या

करके उनके खून से सने सुखैश्वर्य को भोगना नहीं चाहता। भाई को मारो, गुरु का वध करो, अपने कुल का नाश करने से न चूको—क्या यही क्षात्रधर्म है ? आग लगे ऐसे अनर्थकारी क्षात्रधर्म में। हमारे शत्रु दुष्ट हैं, वे धर्माधर्म को नहीं जानते। तो क्या उनके साथ हम भी पापी हो जाएँ ? कभी नहीं। मुझे तो यह घोर हत्या और पाप श्रेयस्कर नहीं मालूम पड़ता।' इस प्रकार विचार करते-करते उसका मन डावाँडोल हो गया।

कर्माकर्म संशय के ऐसे अनेक प्रसंग ढूँढकर अथवा कल्पित करके उन पर बड़े-बड़े कवियों ने अत्यन्त सरस काव्यों तथा नाटकों की रचना की है। उदाहरणार्थ, शैक्सपीयर का प्रसिद्ध नाटक 'हैमलेट' लीजिए। डेनमार्क के राजकुमार हैमलेट के चाचा ने राजकर्त्ता अपने भाई (हैमलेट के पिता) को मारकर उसकी पत्नी—हैमलेट की माता को, अपनी पत्नी बना लिया और राजगद्दी छीनकर राजा बन बैठा। तब राजकुमार हैमलेट के मन में द्वन्द्व मच गया कि ऐसे पापी चाचा का वध करके पुत्र-धर्म के अनुसार अपने पितृ-ऋण से मुक्त हो जाऊँ अथवा अपने चाचा, अपनी माता के पति और सिंहासनारूढ़ राजा पर दया करूँ ? इस मोह में पड़ जाने के कारण कोमल अन्तःकरण वाला हैमलेट पागल हो गया और अन्त में 'जिएँ या न जिएँ'[1] इसी बात

---

[1] To be or not to be—that is the question;
Whether tis nobler in the mind to suffer
The slings and arrows of outrageous fortune,
Or to take arms against a sea of troubles,
And by opposing end them ? To die, to sleep—
......But that the dread of something after death—
The undiscovered country, from whose bourne,
No traveller returns—puzzles the will........
Thus conscience does make
Cowards of us all. —Hamlet, Act III, Scene 1

की चिन्ता करते-करते आत्महत्या करने पर विवश हो गया। काश ! उस समय उसे कोई हितैषी मार्गदर्शक मिल गया होता।

अर्जुन भाग्यशाली था कि उसे श्रीकृष्ण जैसा परमहितैषी और नीतिमान् उपदेशक मिल गया। किं कर्त्तव्यविमूढ़ होकर वह श्रीकृष्ण की शरण में चला गया—'मैं आपका शिष्य हूँ, मुझे मार्ग दिखाइये'—"शिष्यस्तेऽहं शाधिमां त्वां प्रपन्नम्"। तब उसे क्षात्रधर्म में प्रवृत्त करने के लिए श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा, उसी को 'भगवद्गीता' के नाम से अभिहित कर महर्षि वेदव्यास ने अपने महाकाव्य 'जय' (महाभारत) में प्रस्तुत किया। इसका फल यह हुआ कि जो अर्जुन पहले भीष्म आदि गुरुजनों की हत्या के भय के कारण युद्ध से पराङ्-मुख हो गया था, वही अब अपना यथोचित कर्त्तव्य समझ गया और अपनी स्वतन्त्र इच्छा से युद्ध में प्रवृत्त हो गया।

गीता के तात्पर्य को जानने के लिए उसके उपक्रम—उपसंहार—परिणाम को अवश्य ध्यान में रखना होगा। गीता के उपदेश का उपक्रम (आरम्भ) तब हुआ जब अर्जुन 'मैं नहीं लड़ूँगा' (न योत्स्ये) कहकर और धनुष-बाण फेंककर, मारने की बजाय मरने के लिए तैयार होकर, रथ में पीछे की ओर जा बैठा और इस उपदेश का उपसंहार (अन्त) तब हुआ जब अर्जुन श्रीकृष्ण के आदेशानुसार (करिष्ये वचनं तव) लड़ने के लिए तैयार हो गया। गीता कहते-कहते बीच-बीच में अनुमान-दर्शक महत्त्व के 'तस्मात्' (इसलिए) पद का प्रयोग करके अर्जुन को यही निश्चितार्थक कर्म विषयक उपदेश देते गये कि 'तस्माद्युध्यस्व भारत' (२।१८)—इसलिए हे अर्जुन ! तू युद्ध कर; 'तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः' (२।३७)—इसलिए हे कौन्तेय ! तू युद्ध का निश्चय करके उठ; 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर' (३।१९)—इसलिए मोह छोड़कर तू अपना कर्त्तव्य कर्म कर; 'युद्ध्यस्व विगतज्वरः' (३।३०)—निश्चिन्त होकर युद्ध कर; 'कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्' (४।१५)—इसलिए तू कर्म कर;

'मामनुस्मर युध्य च' (८।७)—इसलिए मेरा स्मरण कर और लड़; 'तस्मात्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्' (११।३३)—इसलिए तू उठ और शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज्य का उपभोग कर; 'युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्' (११।३४)—युद्ध कर, तू शत्रुओं को जीतेगा।

उपदेश की समाप्ति पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन से पूछा—'तूने मेरी बातों को ध्यानपूर्वक सुन तो लिया है न ? और सुन लिया है तो बता कि तेरा अज्ञान से उत्पन्न मोह पूरी तरह दूर हो गया या नहीं ?' (१८।७२) इस पर अर्जुन ने उत्तर दिया—'हे अच्युत, आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे अपने कर्त्तव्य का वोध हो गया है। अव मैं जैसा आप कहेंगे, वैसा ही करूंगा'। (१८।७३) 'जैसा आप कहेंगे'—अब कहने के लिए क्या रह गया था ? श्रीकृष्ण ने वार-बार एक ही बात कही—लड़, लड़, लड़…। और अर्जुन लड़ने के लिए खड़ा हो गया। फिर वह ऐसा लड़ा कि एक वार आवेश में आकर बड़े भैया युधिष्ठिर तक को मारने को तैयार हो गया था। यदि श्रीकृष्ण बीच में न पड़ते तो युधिष्ठिर की मृत्यु निश्चित थी। (वनपर्व)

इस प्रकार तात्पर्य निर्णय के लिए निर्धारित नियमों के अनुसार गीता का प्रतिपाद्य युद्ध से विरत अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं ठहरता।

श्रीकृष्ण को सारथि वना, धनुषवाण ले, रथ पर सवार होकर अर्जुन युद्धक्षेत्र में किसलिए गया था ? निश्चय ही युद्ध करने के लिए। उसे यह भी पहले से पता था कि उसके प्रतिद्वन्द्वी कौन हैं ? प्रतिद्वन्द्वियों में प्रमुख कौन हैं ? उन सबको भी वह भलीभांति जानता था। तव दोनों सेनाओं के वीच खड़ा होकर उन्हें जानने में क्या तुक थी ? देखा ही था और देखकर अर्जुन के मन में कुछ शंकाएं उठी थीं जो उसके युद्ध में प्रवृत्त होने में वाधक बन रही थीं तो श्रीकृष्ण का उपदेश उन शंकाओं के समाधान तक सीमित रहना चाहिए

था। अर्जुन ने अपने मन को उद्विग्न करने वाली शंकाओं तथा युद्ध के परिणामस्वरूप होने वाली हानियों को इस रूप में प्रस्तुत किया था—

१. पूज्य गुरुजनों और बन्धु-बाँधवों की हत्या कल्याणकारिणी नहीं होगी।

२. जिनके लिए राज्यभोग और सुख चाहिएं वे सब तो यहां मरने के लिए खड़े हैं।

३. जिन्हें मारकर मैं तीनों लोकों का राज्य भी नहीं चाहता तो क्या एक पृथिवी के राज्य के लिए इनका हनन करना उचित होगा ?

४. माना कि ये आततायी हैं, तब भी क्या स्वजनों को मारकर हम सुखी रह सकेंगे ?

५. यद्यपि धृतराष्ट्र के पुत्र लोभ के वशीभूत हो बुद्धि खो बैठने से कुल के क्षय और मित्रद्रोह करने के पाप को नहीं देख रहे हैं—तो क्या हमें भी इस दोष और पाप से बचने के विषय में विचार नहीं करना चाहिए ?

६. कुल का नाश हो जाने पर कुल धर्म का नाश हो जायेगा।

७. कुलधर्म के नष्ट होने पर अधर्म के राज्य का विस्तार हो जायेगा।

८. अधर्म के फैल जाने पर स्त्रियों का आचरण दूषित हो जायेगा।

९. स्त्रियों के दूषित हो जाने पर उनसे वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होती है।

१०. वर्णसंकर, कुल नष्ट करने वालों को और कुल, दोनों को नरक में ले जाते हैं। ऐसे कुलों के पितर अन्न जल के अभाव में दुःख पाते हैं।

११. इन दोषों के कारण समस्त जाति-धर्म और परम्परागत कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं।

१२. जिनके कुल धर्म नष्ट हो जाते हैं वे सदा के लिए दुःखरूप नरक में पड़े रहते हैं।

१३. तब क्या यह दुःख और चिन्ता की बात नहीं है कि हम राज्य पाने के लोभ में स्वजनों की हत्या के पाप में प्रवृत्त हो रहे हैं?

१४. क्या मेरे लिए यह अच्छा नहीं होगा कि धृतराष्ट्र के पुत्र हाथ में शस्त्र लेकर मुझ निहत्थे को मार डालें?

१५. पूजा के योग्य भीष्म पितामह तथा आचार्य द्रोण की ओर मैं बाण कैसे फेंक सकूँगा?

१६. क्या ऐसे पूज्य महानुभावों को मारकर जीने की अपेक्षा भीख माँगकर पेट भर लेना उचित नहीं होगा?

१७. क्या यह उचित होगा कि मैं गुरुओं के खून से सने भोगों को भोगूँ?

१८. क्या हम जानते हैं कि हम दोनों—कौरवों तथा पाण्डवों—में कौन जीतेगा?

१९. क्या पृथ्वी के निष्कण्टक समृद्ध राज्य पर मेरा आधिपत्य इन्द्रियों को सुखाने वाले मेरे शोक को दूर कर देगा?

२०. अज्ञान के कारण मैं दीनता के भाव से ग्रस्त हो गया हूँ। इसलिए जो मेरे लिए निश्चय रूप से हितकर हो, वह मुझे बताइए।

क्या श्रीकृष्ण ने अपने उपदेश में इन प्रश्नों का उत्तर दिया है? हमारे विचार में १८वें प्रश्न को छोड़कर शेष प्रश्नों को तो उन्होंने छुआ तक नहीं। परन्तु यह कैसे हो सकता था कि श्रीकृष्ण जैसे प्रौढ़ विद्वान् और कुशल वक्ता ने उत्तर न दिया हो। और फिर, अर्जुन भी उत्तर पाये विना कहाँ छोड़ने वाला था। जैसा हम आगे बताएँगे, महाभारत में जहाँ समय-समय पर श्लोक डाले गए हैं, वहाँ निकाले भी गए हैं। गीता मूलतः महाभारत का ही अंग है। हो सकता है कि इस घटने-बढ़ने में ही श्रीकृष्ण के उत्तर निकल गए हों। अस्तु—

भगवद्गीता अथवा महाभारत के अन्तर्गत भीष्मपर्व के २५वें अध्याय से ४२वें अध्याय तक के १८ अध्यायों का नाम है। महाभारत को व्यास की रचना माना जाता है। परन्तु वर्त्तमान महाभारत के रचयिता व्यास नहीं हैं। वस्तुतः व्यास ने तो वर्त्तमान में प्रचलित एक लाख श्लोकों में महाभारत का नाम तक नहीं सुना था। उन्होंने तो ८-१० हजार श्लोकों का 'जय' नामक ग्रन्थ बनाया था। कालान्तर में उसमें प्रक्षेप होते गये। कब, किसने, कितना और कहाँ प्रक्षेप किया इसका निश्चय करने के लिए कोई आधार न होने के कारण विद्वान् इस विषय में एकमत नहीं हैं। तथापि इतना निश्चित है कि ये प्रक्षेप समय-समय पर अनेक विद्वानों द्वारा हुए हैं। संस्कृत साहित्य के प्रामाणिक विद्वान् चिन्तामणि विनायक वैद्य ने वर्त्तमान में प्रचलित महाभारत के तीन कर्त्ता माने हैं। 'जय' का व्यास रचित होना निर्विवाद है। व्यास के ही एक शिष्य वैशम्पायन ने कुछ श्लोक बढ़ा कर 'जय' को 'भारत' नाम दिया। उनके भारत की श्लोक संख्या चौवीस हजार बताई जाती है। तत्पश्चात् सौति ने ७६००० श्लोक मिलाकर उसे 'महाभारत' के नाम से प्रतिष्ठित किया। सौति कथावाचक थे। महाभारत के सभी आख्यान उन्हीं के लिखे माने जाते हैं। सम्भव है कि श्रोताओं के मनोरंजन के लिए आख्यानों की रचना करते समय उन्होंने सिद्धान्तों का ध्यान न रखा हो। श्रोताओं के साथ हुए प्रश्नोत्तरों के कारण भी सैद्धान्तिक त्रुटियाँ हो सकती हैं। पूर्वापर विरोधी और शास्त्र विरोधी सभी बातों को निश्चित प्रमाणों के अभाव में सौति के सिर भी नहीं मढ़ा जा सकता। अतः विवश हो यही मानना पड़ता है कि विभिन्न कालों में विभिन्न लोग प्रक्षेप करते रहे हैं। महाभारत में सौति को पुराणों का विद्वान् भी बताया है। इससे स्पष्ट है कि सौति पुराणोत्तरकाल के कथावाचक थे। पुराणों का काल महाभारत के बहुत बाद का है। अंग्रेजों के भारत में आने के बाद भी पुराणों की रचना होती रही है, यह निम्नलिखित श्लोक

से स्पष्टतः सिद्ध है—

**रविवारे च सण्डे च फाल्गुने चैव फ़र्वरी ।**
**षष्टिश्च सिक्सटी ज्ञेया तदुदाहरमीदृशम् ।।**

—भविष्यपुराण, प्रतिसर्ग, खं० १, अ० ५

इसलिए पुराणों के आधार पर सौति का काल निश्चित नहीं किया जा सकता ।

ऐसा भी प्रतीत होता है कि जिस प्रकार साम्प्रदायिक लोग अपने अनुकूल विचारों को डालते रहे हैं, वैसे ही प्रतिकूल विचारों को निकालते भी रहे हैं । सौति ने महाभारत की श्लोक संख्या एक लाख गिनी है । परन्तु महाभारत में इस संख्या की अपेक्षा ४००० से १५००० तक की संख्या कम है, क्योंकि कुम्भघोण संस्करण में लगभग ९६००० श्लोक हैं और कलिकाता संस्करण में ८५००० । इससे स्पष्ट है कि महाभारत में से श्लोक निकाले भी जाते रहे हैं ।

हमारा प्रतिपाद्य विषय महाभारत न होकर गीता तक सीमित है, और महाभारत का यह भाग मूलतः निश्चय ही व्यास रचित है । लोकमान्य तिलक का इस विषय में कहना है—"वर्त्तमान गीता को महाभारतकार ने पहले ग्रन्थों के आधार पर ही लिखा है । यह नई रचना नहीं है । तथापि यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि मूल गीता में महाभारतकार ने कोई हेर-फेर नहीं किया होगा ।"

—गीता रहस्य, पृ० ५२५

महाभारत में आदिपर्व के अन्तर्गत निम्न दो श्लोक इस प्रसंग में बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—

**वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान् ।**
**सुमन्तुंजैमिनिं पैलं शुकं चैव स्वमात्मजम् ।।८९।।**
**प्रभुर्वरिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च ।**
**संहितास्तैः पृथकत्वेन भारतस्य प्रकाशिताः ।।९०।।**

सर्वश्रेष्ठ वरदायक भगवान् वेदव्यास ने चारों वेदों तथा पाँचवें

वेद महाभारत को सुमन्तु, जैमिनि, पैल, अपनें पुत्र शुकदेव और वैशम्पायन को पढ़ाया। फिर उन सबने पृथक्-पृथक् महाभारत संहिता वनाकर प्रकाशित की।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा महाभारत के पृथक्-पृथक् पाँच संस्करण प्रकाशित हुए। एक ही विषय में लिखने पर भी पाँच विद्वानों के चिन्तन और अभिव्यक्ति में समानता नहीं हो सकती। इसलिए पाँच महाभारतों में पर्याप्त अन्तर रहा होगा। वर्त्तमान में उपलब्ध महाभारत पाँचों में से किसकी रचना है, इसका पता कैसे लगे ? फिर, उसे प्रामाणिक या अन्यथा कहने का क्या आधार हो सकता है ?

प्रक्षेप से तो इन्कार नहीं किया जा सकता। यह भी निश्चित है कि प्रक्षेप किसी पर्व अथवा अध्याय विशेष में सीमित नहीं रहा होगा, वह समूचे महाभारत में यत्र-तत्र-सर्वत्र हुआ होगा। यदि वर्त्तमान में प्रचलित लक्षश्लोकी महाभारत मूलतः केवल आठ-दस हजार श्लोकों का था तो एक लाख श्लोकों के महाभारत में समाविष्ट सात सौ श्लोकों की गीता का ६०-७० श्लोकों में होना क्या युक्तियुक्त नहीं है ? यह भी हो सकता है कि पूर्व निर्दिष्ट पाँच संस्करणों में से विलुप्त संस्करणों में वैसा ही संस्करण (१० हजार श्लोकी) रहा हो। उसमें गीता का उपदेश भी ६०-७० श्लोकों में दिया गया हो और उसमें इधर-उधर की वातें न करके कृष्ण ने युद्ध से विरत अर्जुन के प्रश्नों का तर्कसंगत, बोधगम्य तथा सूत्रात्मक अर्थात् संक्षिप्त उत्तर दिया हो।

प्रक्षेपों के कारण अनेक की रचना हो जाने से गीता में परस्पर विरोध, पुनरुक्ति तथा प्रसंग विरुद्ध कथन आदि अनेक दोष आ गए हैं। उदाहरणार्थ—

द्वितीय अध्याय के २३वें श्लोक में 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः' कहने के बाद अगले ही श्लोक में 'अच्छेद्योऽयमदाह्यो-ऽयम्' कहने की क्या आवश्यकता थी ? जिसे शस्त्र नहीं काट सकते

उसका 'अच्छेद्य' होना और जिसे 'अग्नि नहीं जला सकती' उसका 'अदाह्य' होना तो स्वतःसिद्ध है। इस श्लोक में आए 'सर्वगतः' शब्द से भी इसका प्रक्षिप्त होना स्पष्ट है। यह 'जीवात्मा' का प्रकरण है। जीवात्मा के 'एकदेशी' होने से उसे 'सर्वगत' नहीं कहा जा सकता। 'अन्तवन्ति इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः' कहने के पश्चात् 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' कहना अनावश्यक था। 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' के साथ 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' कहने में क्या तुक थी? 'जातस्य ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इस सिद्धान्त का निरूपण करने के साथ—'न जायते म्रियते वा कदाचित्', 'अन्थ चैनं नित्यजातम्...', 'देही नित्यमवध्योऽयम्...' 'न त्वेवाहं जातु नासम्...' इत्यादि कथन क्या व्यर्थ समय नष्ट करना नहीं था। द्वितीय अध्याय में इन्द्रिय निग्रह की बात बलपूर्वक ५८, ६० व ६१ श्लोकों में कह दी गई। फिर किंचिद् भिन्न शब्दों में ६७-६८वें श्लोकों में कहने की क्या आवश्यकता थी? व्याख्यानों वा प्रवचनों में बल देने के लिए एक ही बात को बार-बार कहा जा सकता है, परन्तु जिस स्थिति में गीता का उपदेश देना पड़ा, उस अवस्था में आवश्यकता से अधिक एक भी शब्द बोलने का अवसर या औचित्य नहीं बनता।

इसी अध्याय में ४५वां (त्रैगुण्यविषया...) और ४६वां (यावानर्थ उदपाने...) श्लोक अस्थान में होने से प्रक्षिप्त हैं। यह प्रकरण निष्काम कर्म का है। इन दो श्लोकों से पूर्व के ४३-४४वें तथा तत्पश्चात् ४७-४८वें श्लोकों में निष्कामकर्म का विधान किया गया है। ऐसी अवस्था में बीच के श्लोकों में भी निष्काम कर्म के सम्बन्ध में ही कुछ कहना चाहिए था। परन्तु इनमें स्पष्ट ही वेदों की निन्दा की गई है जिसका यहाँ कोई प्रसंग नहीं था।

इस प्रकार गीता में पुनरुक्त, परस्पर विरुद्ध तथा प्रसंग विरुद्ध वचनों की भरमार है। वेदों के प्रगल्भ विद्वान् महर्षि वेदव्यास द्वारा सम्पादित योगिराज श्रीकृष्ण जैसे प्रौढ़ वक्ता के उपदेश में इस प्रकार

के दोष ढूंढने पर भी नहीं मिलने चाहिएँ, फिर भी वर्त्तमान में प्रचलित गीता में ये दोष अनेकत्र दृष्टिगोचर होते हैं। इसके लिए न श्रीकृष्ण दोषी हैं और न वेदव्यास। इसके लिए दोषी हैं, अज्ञात कुल-शील के विद्वान् जो अपने साम्प्रदायिक मन्तव्यों की पुष्टि के लिए समय-समय पर मनमाने प्रक्षेप करके गीता के कलेवर को बढ़ाते-घटाते रहे हैं।

जिस स्थिति में, अर्थात् युद्ध में प्रवृत्त दो सेनाओं के बीच में खड़े होकर यह संवाद हुआ उसमें विषयान्तर और विस्तार के लिए कोई अवकाश, अवसर या औचित्य नहीं था। वहाँ तो सारी बात कुछ क्षणों में समाप्त हो जानी चाहिए थी। अर्जुन ने लड़ने से इन्कार करते हुए जो बातें कही थीं, केवल उनका उत्तर अपेक्षित था। पूरक या अतिरिक्त प्रश्नों (Supplementries) के लिए भी विशेष अवसर नहीं था। युद्धक्षेत्र में जिस उपदेश की कोई आवश्यकता या सार्थकता नहीं थी और अर्जुन ने जिस विषय में जिज्ञासा भी नहीं की थी, उनका विवेचन वहाँ करने की क्या तुक थी? वहाँ तो श्रीकृष्ण को केवल उन्हीं शंकाओं का समाधान करना चाहिए था जिन्हें अर्जुन ने अपने युद्ध से विरत होने के कारणरूप में प्रस्तुत किया था।

वहाँ न तो अध्यात्म, योगाभ्यास और समाधि आदि का विवेचन करने का अवसर था और न खान-पान, दान-पुण्य के सात्त्विक, राजस व तामस भेदों की व्याख्या करने का। इस प्रकार के प्रश्न यदि अर्जुन उठाता भी तो श्रीकृष्ण को कह देना चाहिए था कि 'देश, काल और परिस्थिति को देखते हुए इस समय केवल युद्ध सम्बन्धी बातें कर, शेष बातें युद्ध की समाप्ति पर घर में बैठकर करेंगे। यहाँ तो तू अकेला सुनेगा, वहाँ अन्य अनेक भी सुनकर लाभान्वित होंगे।'

दुर्जनतोषन्याय से यह मान भी लें कि गीता में उपलब्ध उपदेश दिया गया था तो उसका क्या लाभ हुआ? महाभारतकार के अनुसार वह सब अर्जुन तो भूल ही गया, स्वयं श्रीकृष्ण को भी बिल्कुल

याद नहीं रहा। वहाँ अश्वमेधादिक पर्व में अनुगीता के अन्तर्गत लिखा है—

एक दिन अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा कि जब संग्राम का समय उपस्थित था, तब—

यत्तद् भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सुहृदात् ।
तत् सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः ॥६॥
मम कौतूहलं त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः पुनः ।
भवांस्तु द्वारकां गन्ता न चिरादेव माधव ॥७॥

"आपने सौहार्दवश पहले मुझे जो ज्ञान का उपदेश दिया था, मेरा वह सब ज्ञान इस समय विचलित चित्त हो जाने के कारण नष्ट हो गया (भूल गया) है।"

हे माधव ! उन विषयों को सुनने के लिए मेरे मन में बार-बार उत्कण्ठा होती है। इधर आप जल्दी ही द्वारका जाने वाले हैं, अतः वे सब विषय मुझे दुबारा सुना दीजिए।

इस पर श्रीकृष्ण बोले—

अबुद्ध्या नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम् ।
न च साद्य पुनर्भूयः स्मृतिर्मे सम्भविष्यति ॥१०॥
नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव ।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनञ्जय ॥११॥
स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने ।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः ॥१२॥

हे अर्जुन ! तुमने जो अपनी नासमझी के कारण उस उपदेश को याद नहीं रखा, यह मुझे बहुत बुरा लगा है। अब उन बातों का पूरा-पूरा स्मरण होना सम्भव नहीं जान पड़ता। पाण्डुनन्दन ! निश्चय ही तुम बड़े श्रद्धाहीन हो, तुम्हारी बुद्धि बहुत मन्द जान पड़ती है। अब मैं उस उपदेश को ज्यों-का-त्यों नहीं कह सकता। ब्रह्मपद की प्राप्ति कराने के लिए वह धर्म पर्याप्त था। अब यह सारा

का सारा धर्म फिर दुहराना मेरे वश की भी बात नहीं है।

इससे तो स्पष्टतः प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण के अनुसार दोनों सेनाओं के बीच खड़े होकर गीता के नाम पर दिया गया उपदेश अर्जुन को ब्रह्मपद की प्राप्ति कराने के लिए दिया गया था, न कि युद्ध से विरत अर्जुन की शंकाओं का समाधान करके उसे युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए। युद्ध के प्रसंग में ब्रह्मपद की प्राप्ति की बातें करना कहाँ की बुद्धिमत्ता थी? अर्जुन को भी साहस करके टोक देना चाहिए था कि महाराज! मैं युद्धक्षेत्र में शस्त्रधारी लाखों सैनिकों के बीच घिरा खड़ा हूँ, ऋषि-मुनियों के बीच किसी आश्रम में नहीं बैठा हूँ। इस समय तो आप मेरी युद्ध सम्बन्धी शंकाओं का समाधान कीजिए। ब्रह्मपद प्राप्ति की बातें युद्ध के बाद होती रहेंगी।

और यदि श्रीकृष्ण अर्जुन को ब्रह्मपद की प्राप्ति कराने के लिए कर रहे थे तो बीच-बीच में वार-बार लड़ने के लिए खड़ा होने ('तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत्निश्चयः' इत्यादि) के लिए प्रेरित एवं उत्साहित क्यों कर रहे थे?

यह तो होता है कि कभी-कभी विद्यार्थी अध्यापक द्वारा पढ़ाया पाठ भूल जाता है। पर यह कभी नहीं होता कि विद्यार्थी द्वारा फिर से पूछे जाने पर अध्यापक यह कह दे कि अब तो मैं भी भूल गया हूँ इसलिए दुबारा नहीं पढ़ा सकता। निश्चय ही विद्यार्थी से अध्यापक का या शिष्य से गुरु का ज्ञान अधिक होता है।

श्रीकृष्ण ने गीता में एक स्थान पर अर्जुन से कहा है—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥४।५॥

हे अर्जुन! मेरे और तेरे अनेक जन्म बीत चुके हैं। मैं उन सब (जन्मों) को जानता हूँ, तू नहीं जानता।

अर्जुन सामान्य पुरुष था, उसका भूल जाना कोई बड़ी बात नहीं है, परन्तु जन्म-जन्मान्तर की बातों को अपने योगबल से जानने

वाले योगिराज श्रीकृष्ण लगभग एक मास पहले की इस जन्म की बातों को भूल जाये, यह कैसे सम्भव है ?

उस उपदेश को इस समय दुहराने में अपनी असमर्थता का कारण बतलाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

**परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया । —अनुगीता १३**

उस समय मैंने योगयुक्त होकर परमात्मतत्त्व का वर्णन किया था ।

अर्जुन ने कुछ शंकाएं प्रस्तुत कीं और श्रीकृष्ण ने तत्काल उत्तर देना आरम्भ कर दिया । युद्धक्षेत्र के अशान्त वातावरण में, तुमुलनाद में, श्रीकृष्ण को योगयुक्त होने में देर नहीं लगी । तब उस 'स्वर्ग के समान सुन्दर स्थान' में सर्वथा एकान्त एवं शान्त वातावरण में योग-युक्त होने में क्या बाधा थी ?

श्रोता अर्जुन के भूल जाने पर श्रीकृष्ण ने उसे 'श्रद्धाहीन, मन्द-बुद्धि और नासमझ' आदि कहते हुए उसकी भर्त्सना की । तब उसी अपराध के लिए वक्ता को क्या कहें ? सिवा इसके कि 'समरथ को नहीं दोष गुसाईं ।' महाभारत का एक अन्य श्लोक दृष्टव्य है जो इस प्रकार है—

**अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च ।**
**अहं वेद्मि शुकोवेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा ।।**

—आदि० १।८१

अर्थात् इस ग्रन्थ में आठ हजार आठ सौ श्लोक ऐसे हैं जिनका अर्थ मैं (वेदव्यास) समझता हूँ, शुकदेव समझते हैं और संजय समझते हैं या नहीं, इसमें सन्देह है ।

ये आठ हजार आठ सौ श्लोक कौन से हैं ? इसका निश्चय न तो आज तक कोई कर पाया है और न कभी कोई कर पायेगा । इस समस्त विवेचन से यह तो स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि महाभारत का और उसके अन्तर्गत भगवद्गीता का अधिकांश प्रक्षिप्त है ।

हम यह नहीं कहते कि गीता का अधिकांश अनुपयोगी है अथवा अशुद्ध या व्यर्थ है। हमारा आग्रह तो इस बात पर है कि वह (थोड़े से श्लोकों को छोड़कर, जिनका सीधा सम्बन्ध अर्जुन की युद्ध के आरम्भ में प्रस्तुत शंकाओं से है) युद्धक्षेत्र में श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच हुआ संवाद न होकर कालान्तर में अनेक विद्वानों द्वारा प्रक्षिप्त है।

हमने यहाँ अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार विद्वानों के विचारार्थ उन श्लोकों को अर्थसहित संकलित कर प्रस्तुत किया है जो प्रसंगानुसार तथा तर्क-प्रतिष्ठित होने से प्रामाणिक हैं। इनमें न्यूनाधिक्य हो सकता है। अन्तिमेत्थम का दावा हम नहीं करते।

जिस स्थान पर महाभारत का युद्ध हुआ, उसे गीता के प्रथम श्लोक में 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' बतलाया गया है। इस पर लोकमान्य की टिप्पणी इस प्रकार है—

'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे—कौरव-पाण्डव का पूर्वज कुरु नाम का राजा इस मैदान को बड़े कष्ट से जोतता था। अतएव इसे कुरु का क्षेत्र (खेत) कहते हैं। इन्द्र ने कुरु को यह वरदान दिया कि इस क्षेत्र में जो मनुष्य या पशु-पक्षी निराहार रहकर मरेंगे या युद्ध में मारे जाएँगे उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी, कुरुक्षेत्र की वायु द्वारा उड़ाई गई धूलि जिसके ऊपर पड़ जायेगी वे पापी भी परमपद (मोक्ष) प्राप्त करेंगे। तब से उसके इस क्षेत्र में हल चलाना छोड़ दिया। (महा० शल्य पर्व ५३)। इन्द्र के इस वरदान के कारण ही यह क्षेत्र पुण्यक्षेत्र या धर्मक्षेत्र कहाने लगा। इस मैदान के विषय में यह भी कथा प्रचलित है कि परशुराम ने इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रिय-विहीन करके यहाँ पितृ-तर्पण किया था और अर्वाचीनकाल में भी इस क्षेत्र में बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हुई हैं।'—(गीता रहस्य पृ० ६०८)

तिलक द्वारा महाभारत से उद्धृत यह प्रमाण किसी बुद्धिजीवी के गले नहीं उतर सकता; क्योंकि वह स्वयं महाभारत में अनेकत्र

प्रतिपादित कर्मफल सिद्धान्त का प्रत्याख्यान करता है।

गीता में श्रीकृष्ण की सुविचारित घोषणा है—

**प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।**
**अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो यांति परां गतिम् ॥६-४५**

यत्नपूर्वक उद्योग करता हुआ योगी, जिसके पाप शोधे गए, अनेक जन्मों में सिद्धि प्राप्त करता हुआ परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करता है, तव मात्र कुरुक्षेत्र की धूलि ऊपर गिर जाने अथवा वहाँ निराहार मर जाने से पशु-पक्षियों तक को मोक्ष मिल जाने की बात पर कैसे विश्वास किया जा सकता है? फिर, परशुराम द्वारा २१ बार पृथ्वी को क्षत्रियविहीन कर देना कौन-सा पुण्यकर्म था।

महाभारत युद्ध में ही १८ अक्षौहिणी सेना (५० लाख मनुष्य) में से केवल १० व्यक्तियों को छोड़कर सभी काल के गाल में समा गये थे। ऐसी भूमि को पुण्यभूमि या धर्मक्षेत्र कैसे माना जा सकता है? इतिहासज्ञ एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि इसी युद्ध के कारण भारत का इतना पतन हुआ कि जो देश कभी विद्या, चरित्र, विज्ञान और कला की दृष्टि से सब देशों का शिरोमणि और समृद्धि की दृष्टि से पारसमणि और सोने की चिड़िया माना जाता था, वह पतन के गर्त में ऐसा गिरा कि आज तक भी उससे पूरी तरह नहीं उभर पाया है। न तो घरेलू झगड़े के कारण हुए ऐसे विनाशकारी युद्ध को धर्मयुद्ध कहा जा सकता है और न ऐसे युद्धक्षेत्र को धर्मक्षेत्र कहा जा सकता है।

**—विद्यानन्द सरस्वती**

**डी-१४/१६ माडल टाउन,**
**श्रीकृष्ण जन्माष्टमी संवत् २०४६**
**२१ अगस्त, १९९२**

# श्रीमद्भगवद्गीता

कुरुक्षेत्र के मैदान में दोनों सेनाओं को सन्नद्ध देखकर—

अर्जुन उवाच

**हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।**
**सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥१॥**

अर्जुन ने श्रीकृष्ण (हृषीकेश) से यह वचन कहा कि हे अच्युत (कृष्ण) मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दो।

**अच्युत**—कृष्ण को इस नाम से इसलिए अभिहित किया गया, क्योंकि वह किसी देश-काल में भी अपनी दृढ़ नीति वा प्रतिज्ञा से च्युत (पीछे) नहीं हटते थे।

**हृषीकेश**—'हृषीक' नाम है इन्द्रियों का, इसलिए हृषीकेश का अर्थ हुआ 'इन्द्रियों का स्वामी'। शमदमादि साधनों से सम्पन्न होने से कृष्ण को 'हृषीकेश' कहा गया है।

**यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।**
**कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२॥**

जिससे मैं युद्ध के अभिलाषी इन योद्धाओं को देख सकूँ कि इस युद्ध में मुझे किन-किन वीरों के साथ लड़ना है। यावत्—जब तक मैं इन्हें अच्छी तरह न देख लूँ, तब तक मेरे रथ को यहाँ से न हटाना।

सञ्जय उवाच

**एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।**
**सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥३॥**

सञ्जय ने धृतराष्ट्र से कहा—अर्जुन द्वारा इस प्रकार सम्बोधित किये जाने पर श्रीकृष्ण ने उस उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दिया।

**भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।**
**उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान् कुरूनिति ॥४॥**

भीष्म, द्रोण और सब राजाओं के सम्मुख श्रीकृष्ण ने कहा कि हे पार्थ ! यहाँ एकत्र हुए इन सब कौरवों को देख।

'कौरवों को देख' इन शब्दों का प्रयोग करके श्रीकृष्ण ने यह संकेत किया है कि 'इस सेना में जितने लोग हैं, प्रायः सभी तुम्हारे स्वजन हैं।' लड़ने से इन्कार करते समय अर्जुन ने भी कुछ ऐसी ही बात कही—'स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव', अपने ही परिवार को मारकर हम कैसे सुखी रह सकेंगे ?

**तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान् ।**
**आचार्यान्मातुलान् भ्रातृन् पुत्रान्पौत्रान् सखींस्तथा ॥५॥**
**श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।**
**तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥६॥**
**कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।**

वहाँ अर्जुन ने पितृतुल्य, पितामहतुल्य, गुरुजनों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, मित्रों तथा दोनों सेनाओं में श्वसुरों और शुभ-चिन्तकों को खड़ा देखा। उन सब बन्धु-बाँधवों को वहाँ खड़ा देखकर, करुणा से अभिभूत हुआ अर्जुन शोकाकुल होकर बोला—

अर्जुन उवाच

**दृष्टवेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥७॥**
**सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।**
**वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥८॥**

हे कृष्ण ! युद्ध के लिए सामने खड़े हुए इन स्वजनों को देखकर मेरे शरीर के अंग शिथिल हो रहे हैं, मुँह सूख रहा है, मेरा शरीर

काँप रहा है और रोंगटे खड़े हो रहे हैं।

**गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते ।**
**न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥९॥**

गाण्डीव हाथ से गिरा जाता है और त्वचा जल रही है। मैं खड़ा नहीं हो पा रहा हूँ और मेरा मन भ्रमित हो रहा है।

**निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।**
**न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥१०॥**

हे केशव ! मुझे उल्टे लक्षण दीख पड़ते हैं, अर्थात् मुझे भविष्य उज्ज्वल दिखाई नहीं पड़ता। युद्ध में स्वजनों की हत्या करने में मुझे कुछ भला मालूम नहीं पड़ता।

**न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।**
**किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥११॥**

हे कृष्ण ! मुझे विजय, राज्य और सुख नहीं चाहिए। मैं न विजय चाहता हूँ और न किसी प्रकार के भोग। मैं तो अब जीना भी नहीं चाहता। क्योंकि—

**येषामर्थेकांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।**
**त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥१२॥**

जिनके लिए राज्य, भोग और सुख चाहिएं, वे सब तो यहीं युद्ध में अपने प्राण और धनादि का मोह छोड़कर अर्थात् मरने के लिए खड़े हैं।

**एतान्न हन्तुमिच्छामिघ्नतोऽपि मधुसूदन ।**
**अति त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥१३॥**

हे मधुसूदन ! ये मुझे मार डालें तो भी मैं इनको मारना नहीं चाहता। इस धरती की तो बात ही क्या, मैं तो त्रिलोकी के राज्य के लिए भी इन्हें मारना नहीं चाहता।

**निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।**
**पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥१४॥**

हे जनार्दन ! इन धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या मिलेगा। इन आततायियों को मारकर भी हमें पाप ही लगेगा।

वशिष्ठ स्मृति में आततायी के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं—

**अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।**
**क्षेत्रदारापहर्त्ता च षडेते ह्याततायिनः॥—३।१९**

आग लगाने वाला, विष देने वाला, हाथ में शस्त्र लेकर मारने को उद्यत, धन हरण करने वाला, जमीन छीनने वाला और स्त्री का अपहरण करने वाला—ये छः आततायी कहलाते हैं।

मनुस्मृति के अनुसार—

**आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।**
**नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥**

—मनु० ८।३५०-५१

अपना अनिष्ट करने के लिए आते हुए आततायी को बिना सोच-विचार किए मार डालना चाहिए। आततायी को मारने में मारने वाले को कुछ भी दोष नहीं होता।

परन्तु स्मृति यह भी कहती है—"स एव पापिष्ठतमो यः कुर्यात् कुलनाशनम्" अर्थात् जो अपने कुल का नाश करता है, वह सबसे बढ़कर पापी है। धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे ही कुल के हैं, इसलिए उनको मारकर हम कुलघात के पाप के भागी होंगे। यदि यह कहा जाए कि वे अन्यायकारी और अत्याचारी हैं, इसलिए उन्हें मारने में दोष नहीं, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि शास्त्रकारों ने कहा है—'न पापे प्रति पापःस्यात्' अर्थात् एक पाप के बदले में दूसरा पाप न करो।

महाभारत के उद्योग पर्व में कहा है—

**अक्रोधेन जयेत् क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्।**
**जयेत् कदर्यं दानेन सत्येनानृतं जयेत्॥**

क्रोध को अक्रोध से, असाधुता को साधुता से, कृपण को दान से और असत्य को सत्य से जीते। इस प्रकार, अर्जुन के अनुसार,

दुर्योधनादि को मारकर कुलनाश के आरोप से कदापि रहीं बचा जा सकता। यहाँ अर्जुन के सामने सबसे बड़ी समस्या कुलनाश की है। इसलिए वह फिर कहता है—

**तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।**
**स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधवः ।।१५।।**

इसलिए अपने बन्धु धृतराष्ट्र के पुत्रों की हत्या करना हमारे लिए उचित नहीं है। भला स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी रह सकेंगे ?

**यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।**
**कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ।।१६।।**
**कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।**
**कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।।१७।।**

हे जनार्दन ! यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त ये लोग कुल नाश करने में अथवा मित्रद्रोह में कोई दोष नहीं देखते, किन्तु उस पाप को जानने वाले हम लोग क्यों न उसे समझें और उससे बचने का प्रयत्न करें ?

अर्जुन के अनुसार कौरव तो अज्ञानी हैं। लोभ ने उनकी बुद्धि को कुण्ठित कर दिया है, इसलिए उन्हें भले-बुरे का, हित-अहित का ज्ञान न होने से कुलक्षय से होने वाली हानि का अनुभव नहीं होता। पर हम तो उसे भली-भाँति समझते हैं। तब हम जानते-बूझते इस पाप में प्रवृत्त क्यों हों। हमें तो इस पर विचार करके इससे हट जाना चाहिए।

**कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।**
**धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ।।१८।।**

कुल का नाश होने पर सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और कुलधर्म का नाश हो जाने पर समूचा कुल अधर्म में प्रवृत्त हो जाता है।

पाँच हेतु ऐसे हैं जिनके कारण मनुष्य अधर्म या पाप से बचा

रहता है और धर्म को सुरक्षित रखने में समर्थ होता है। वे हैं—ईश्वर का भय, शास्त्र का शासन, कुल मर्यादाओं के टूटने का डर, राज्य का दण्डविधान और शारीरिक तथा आर्थिक अनिष्ट की आशंका। इनमें ईश्वर और शास्त्र के सत्य होने पर भी वे व्यक्ति-व्यक्ति की उनके प्रति श्रद्धा पर निर्भर करते हैं, इसलिए वे दोनों प्रत्यक्ष हेतु नहीं हैं। राज्य का दण्ड-विधान मानव निर्मित होने से निर्भ्रांत और पूर्ण नहीं होता। उसका कार्यान्वयन भी पक्षपातरहित नहीं होता। वह प्राय: शासकवर्ग के अधीन होता है। जिनके अधिकार में वह होता है, वे उसका प्रयोग प्राय: जनता के लिए करते हैं। अपने आपको वे उसके ऊपर मानते हैं। चाहते हुए भी अल्पबुद्धि और अल्पशक्ति होने तथा अज्ञान व लोभ या अन्य प्रकार की स्वार्थवृत्ति से अभिभूत होने के कारण भी वे न्याय करने में असमर्थ होते हैं। शारीरिक तथा आर्थिक हानि की आशंका अधिकतर व्यक्तिगत रूप में हुआ करती है और इस कारण उसका क्षेत्र सीमित होता है। कुलमर्यादा एक ऐसी वस्तु है जिससे सारा कुटुम्ब मर्यादित रहता है। जिस कुल या समाज में, यहाँ तक कि राष्ट्र में, परम्परा से चली आती हुई शुभ और श्रेष्ठ मर्यादाएं नष्ट हो जाती हैं, वह कुल या समाज अथवा राष्ट्र विना लगाम के घोड़ों के समान उच्छृंखल हो जाता है। उच्छृंखलता किसी भी नियम या मर्यादा को सहन नहीं करती और वह मनुष्य को स्वेच्छाचारी वना देती है। जिस समाज के लोग इस प्रकार स्वेच्छाचारी हो जाते हैं, उस समाज या कुल में धर्म से ग्लानि हो जाने से सर्वत्र पाप छा जाता है।

**अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।**
**स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥१६॥**

अधर्म के बढ़ जाने पर कुलीन स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और स्त्रियों के दूषित हो जाने पर वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होती है।

यहाँ से अर्जुन क्रमशः युद्ध के भयंकर परिणामों के सम्बन्ध में

अपने तर्क प्रस्तुत करता है। राष्ट्र या समाज की आत्मा उसकी संस्कृति है। संस्कृति का उद्भव स्थल कुल या परिवार होता है। उनमें सनातनकाल से चली आ रही परम्पराओं और मर्यादाओं का नाम संस्कृति है। 'नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्'। जब कुल धर्म का नाश हो जाएगा तो उसमें सुरक्षित संस्कृति—परम्परा और मर्यादाएँ कहाँ रहेंगी ? मर्यादा का लोप होने पर स्त्रियाँ स्वच्छन्द हो जाती हैं। वर्तमान में यह हम सबके प्रत्यक्ष का विषय है। ऐसी अवस्था में स्त्रियाँ वासना की तृप्ति के लिए जिस किसी पुरुष से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए विवश होती हैं।

सन् १९१४-१८ के वीच हुए विश्वयुद्ध में कम-से-कम एक करोड़ व्यक्ति निश्चित रूप से मरे थे। ३० लाख व्यक्तियों के लिए 'निश्चित' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। मारे जाने वाले सब पुरुष थे, स्त्रियाँ बची रह गईं थीं। द्वितीय विश्वयुद्ध (१९३९-४५) के दिनों में हमारे देखने में एक पुस्तक आई थी—'War and Immorality' (युद्ध और दुराचार) उसमें लिखा था कि प्रथम विश्वयुद्ध में पुरुषों के बड़ी संख्या में मारे जाने से पुरुषों को लेकर माँग और पूर्ति (Demand and Supply) की स्थिति उत्पन्न हुई। तब पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अंग प्रदर्शन के लिए कम-से-कम वस्त्र धारण करने और शरीर का अधिकांश भाग नंगा रखने का फ़ैशन शुरू हुआ। टाँगों को नंगा रखने का रिवाज भी तभी से चला। तभी से अपने को सुन्दर दिखाने के लिए नए-नए उपाय किए जाने लगे। द्वितीय विश्वयुद्ध में अकेले रूस में दो करोड़ दस लाख लोग मारे गए थे। सारी दुनिया में मरने वालों की संख्या पाँच करोड़ कूती गई थी। युद्धकाल की विलासिता धीरे-धीरे सामान्य जीवन की आवश्यकता वन गई। उसके दुष्परिणाम हमारे सामने हैं। चरित्र अब चरित्रहीनता का पर्याय बन गया है।

वर्णसंकरता के सन्दर्भ में एक तुलनात्मक उदाहरण हम यहाँ

डा० राधाकृष्णन की पुस्तक 'Hindu View of life' से उद्धत कर प्रस्तुत कर रहे हैं—

"An interesting record of one Martin Kallakak appeared in 'Popular Science Siftings." Martin Kallakak was a young soldier in the Revolutionary war. His ancestory was excellent. But in the general laxity and abnormal social conditions of war time he forgot his noble blood. He met a physically attractive but feeble-minded girl. The result of the meeting was a feeble-minded boy. This boy grew up and married a woman who was apparently of the same low stock as himself. They produeed numerous proginy. The children in turn married others of their kind, and now for six generations this strain has been multiplying. Since that night of dissipation long ago the population has been augmented by 480 souls who trace back their ancestory back to Martin Kallakak and the nameless girl. Of these 143 have been feeable-minded, 33 immoral, 36 illegitimate, 3 epilepties, 3 criminals and 8 brothel keepers. The same original Martin Kallakak, however, after sowing this appaling crop of wild oats, finally married a young girl of splendid talents and noble ancestory. From this union there have been 496 direct descendants. Many have been governors, one founder of a great university, doctors, lawyers, judges, educators, land holders and useful citizens and admirable parents, prominent in every phase of social life. The last one ln evidence is now a man of wealth and influence." —Hindu View of Life, p. 73

परम्परा और कुलमर्यादा का लोप होने पर गुण-कर्मानुसार विवाह नहीं होते, प्रेम-विवाह होते हैं। विवाह का आधारभूत तत्त्व, जो प्रवृत्तियों का एक दूसरे से मेल है, लुप्त हो जाता है। संकरता का मूल—विवाह का आधार प्रवृत्ति को न बनाकर प्रेम के नाम पर माँसल वासना को बनाना है।

इस प्रकार स्त्री-पुरुष भिन्न-भिन्न वर्गों के होने से ऐसे माता-पिता

से जो वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होती है, वह आचार-विचार की दृष्टि से प्रायः विश्वसनीय नहीं होती।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥२०॥

यह वर्णसंकरता कुल नष्ट करने वालों और कुल को—दोनों को नरक में ले जाती है, क्योंकि ऐसे कुलों में पितरों (बड़े-बूढ़ों) को अन्न-जल नहीं मिलता। यही उनका जीते जी नरक में गिरना या नरक भोगना है।

यहाँ 'वर्णसंकर', 'लुप्तपिण्डोदक' तथा 'नरक'—ये तीन शब्द विचारणीय हैं। 'वर्णसंकरता' का आधार समझी जाने वाली 'जाति-व्यवस्था', 'वर्णव्यवस्था' का पर्याय नहीं है। जहाँ जाति-व्यवस्था का आधार जन्म है, वहाँ वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण-कर्म-स्वभाव है। आगे चलकर गीता में ही कहा है—'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म-विभागशः' (४।१३)। वर्त्तमान में प्रचलित जाति-व्यवस्था प्राचीन वैदिक वर्णव्यवस्था का विकृत रूप है। जहाँ जाति-व्यवस्था समाज को तोड़ती है वहाँ वर्णव्यवस्था उसे व्यवस्थित करके जोड़ती है। जहाँ जातियाँ अनेक कही जाती हैं, वहाँ वर्ण केवल चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रत्येक वर्ण के कर्म या कर्त्तव्य निर्धारित हैं। प्रत्येक का अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त रहना वर्ण-व्यवस्था है। जो जिस कार्य के योग्य नहीं है, वह उसे करने लगे, यह वर्णसंकरता है। इस प्रकार की संकरता समाज के लिए घातक है जो उसे नरक में धकेल देती है। अनमेल (विपरीत) गुण-कर्म-स्वभाव वाले पति-पत्नी में सामंजस्य न होने से घर नरक बन जाता है और ऐसे परिवार में जन्म लेने और पालन-पोषण पाने वाला बालक वर्णसंकर होने से अपने तथा अपने कुल के लिए अशान्ति का कारण बन जाता है। उससे कुल की मर्यादा बनाये रखने की आशा नहीं की जा सकती।

लुप्तपिण्डोदक (व्यभिचार से उत्पन्न) वर्णसंकर सन्तान अपने

वृद्ध पुरुषों को सम्मान देते हुए उनको अन्न-जल प्रदान नहीं करती, इसलिए 'लुप्तपिण्डोदक क्रियाः' यह पितरों के लिए विशेषण दिया है और इसी का संकेत अगले श्लोक में किया गया है। इन शब्दों से मृतक श्राद्ध का ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए।

नरक—'नरक' किसी स्थान विशेष का नाम नहीं है। जहाँ विशेष दुःख हो वही नरक कहलाता है। 'नृणाति क्लेशं प्रापयति'। आप्टे संस्कृत कोश में इन अर्थों में नरक शब्द का प्रयोग हुआ है। निरुक्त (१।१२) में लिखा है—'नरकं नि अरकं। नीचैर्गमनम्। नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा। इस प्रकार नरक पद के दो निर्वचन दिए गए हैं—सब प्रकार से नीचे गिरना नरक है तथा जहाँ रमण अथवा आनन्द का स्थान थोड़ा भी न हो। दोनों निर्वचन युक्त हैं।

**दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।**
**उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥२१॥**

वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न करने वाले कुलघातियों के इन दोषों से शाश्वत जाति-धर्म और कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं।

युद्ध में जनहानि से कुल का नाश, उससे कुलधर्म का नाश होने से पापों की वृद्धि, इनकी वृद्धि से कुलस्त्रियों का दूषित होना, फिर उनसे वर्णसंकर सन्तान का पैदा होना—इस प्रकार कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं।

**उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।**
**नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥२२॥**

हे जनार्दन ! परम्परा से सुनते आए हैं कि जिनके कुलधर्म नष्ट हो गए हैं वे अनन्तकाल तक नरक में रहते अर्थात् दुःख भोगते हैं।

**अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यसिता वयम्।**
**यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥२३॥**

यह महान् आश्चर्य और दुःख की बात है कि हम राज्य सुख के

लोभ से स्वजनों के वध जैसा महत्पाप करने के लिए तैयार हो गए हैं।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्राः रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥२४॥

यदि हाथों में शस्त्र लिए धृतराष्ट्र के पुत्र युद्ध में शस्त्ररहित और सामना न करने वाले मुझको मार डालें तो मेरे लिए यह अधिक कल्याणकारक होगा।

संजय उवाच

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥२५॥

संजय ने कहा—शोकाकुलचित्त अर्जुन यह कहकर युद्ध-क्षेत्र में धनुष-बाण को त्याग कर रथ में बैठ गया।

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥२६॥

संजय ने कहा—इस प्रकार करुणा से व्याप्त और आँसुओं से पूर्ण आँखों वाले अर्जुन से श्रीकृष्ण ने यह वचन कहा—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२७॥

संकट की इस कठिन घड़ी में तुझे यह मोहजन्य अज्ञान कहाँ से पैदा हो गया जो अनार्यसेवित, स्वर्ग प्राप्ति में बाधक और अपयश का देनेवाला है।

'अनार्यजुष्टम्'—इस पर डा० राधाकृष्णन की टिप्पणी है—

"The Argans, it is contended by some, are those who accept a particular type of inward culture and social practice, which insists on conrage and courtesy, nobility and straight dealing.

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥२८॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार की तुच्छ नपुँसकता को प्राप्त मत हो। यह तुझे शोभा नहीं देता। हे शत्रुओं को ताप देने वाले अर्जुन ! हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिए खड़ा हो।

अर्जुन उवाच

**कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।**
**इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥**

अर्जुन ने कहा—हे मधुसूदन कृष्ण ! मैं भीष्म और द्रोण पर युद्ध में बाण कैसे चलाऊँगा। ये दोनों ही मेरे पूज्य हैं।

**गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।**
**हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥२६॥**

गुरुजनों का वध करके जीवित रहने की अपेक्षा तो इस संसार में भीग माँगकर जीना अधिक श्रेयस्कर होगा। अर्थलोलुप होने पर भी गुरुजनों को मारने पर मुझे इस जगत् में रक्त से सने भोग भोगने पड़ेंगे।

**अर्थलोलुप**—'गुरुजनों' इस बहुवचनान्त शब्द से यहाँ 'बड़े बूढ़े' अर्थ अभिप्रेत है। क्योंकि विद्या सिखाने वाला गुरु तो द्रोणाचार्य के अतिरिक्त सेवना में दूसरा कोई नहीं था। युद्ध छिड़ने से पहले जब ऐसे गुरुजनों—भीष्म, द्रोणाचार्य तथा कृपाचार्य के पास उनका आशीर्वाद लेने के लिए युधिष्ठिर अपना कवच उतारकर नम्रतापूर्वक गए तो 'विजयी भव' का आशीर्वाद देते हुए कौरवों की ओर से लड़ने का कारण वताते हुए वारी वारी तीनों से एक ही बात कही—

**अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।**
**इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥**

—भीष्मपर्व, अ० ४३, श्लोक ४१।५६।७१

सच तो यह है कि मनुष्य अर्थ का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं। कौरवों ने मुझे अर्थ से जकड़ रखा है। शल्य के पास जाने पर उन्होंने भी यही कहा था।

इससे पूर्व उद्योगपर्व के अन्तर्गत अध्याय १२९ में गाँधारी ने दुर्योधन को समझाते हुए कहा था—

**दुर्योधन यदाह त्वां पिता भरतसत्तम।**
**भीष्मो द्रोणः कृपः सत्ता सुहृदां कुरु तद्वचः ॥२०॥**

भरतश्रेष्ठ दुर्योधन, तुम्हारे पिता, पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य और विदुर तुम्हारे सुहृद हैं। इनकी बात मान लो।

**समं हि राज्यं प्रीतिश्च स्थानं हि विदितात्मनाम्।**
**पाण्डवेष्वथ युष्मासु धर्मस्त्वभ्यधिकस्ततः ॥५२॥**
**राजपिण्डभयादेते यदि हास्यन्ति जीवितम्।**
**न हि शक्ष्यन्ति राजानं युधिष्ठिरमुदीक्षितुम् ॥५३॥**

इन आत्मज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में इस राज्य का पाण्डवों अथवा तुम लोगों के पास रहना समान ही है। इनके हृदय में दोनों के लिए एक-सा ही स्थान और प्रेम है तथा ये राज्य से भी बढ़कर धर्म को महत्त्व देते हैं। इस राज्य का उन्होंने अन्न खाया है, उसके भय से यद्यपि वे तुम्हारी ओर से लड़ते हुए अपने प्राणों का परित्याग कर देंगे, तथापि राजा युधिष्ठिर की ओर कभी वक्रदृष्टि से नहीं देखेंगे।

ऊपर जो 'अर्थलोलुप' (अर्थकामान्) शब्द आया है, वह इन्हीं श्लोकों को लक्ष्य करके कहा गया है।

**न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।**
**यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताःप्रमुखे धार्तराष्ट्राः ।३०।**

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए क्या अधिक श्रेयस्कर है—हमारा जीतना या उनका हमें जीतना अथवा हम यह भी नहीं जानते कि हममें से कौन-सा पक्ष भारी है—हम उन्हें जीतेंगे या वे हमें जीतेंगे। जिनको मारकर हम जीना नहीं चाहेंगे, वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं।

**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः। यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥३१॥**

दीनता के कारण मेरा स्वभाव अभिभूत हो गया है और स्वधर्म के सम्बन्ध में मैं संमोहित हूँ। इसलिए आपसे पूंछता हूँ, मेरे लिए जो निश्चित रूप से कल्याणकारी है वह बताइये। मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, मुझ शरणागत को शिक्षा करो।

संजय उवाच

**एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।**
**न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णींबभूवह ॥३२॥**

शत्रुतापी गुडाकेश अर्जुन, जितेन्द्रिय श्रीकृष्ण से 'मैं नहीं लड़ूँगा' ऐसा कहकर चुप हो गया।

**तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।**
**सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥३३॥**

हे धृतराष्ट्र! दोनौं सेनाओं के बीच शोकाकुल हुए उस अर्जुन को जितेन्द्रिय श्रीकृष्ण ने हँसते हुए यह वचन कहा—

श्रीकृष्ण उवाच

**अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।**
**गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥३४॥**

जिनका शोक नहीं करना चाहिए तू उनका शोक करता है और ज्ञानी पुरुषों जैसी बातें करता है। बुद्धिमान् लोग न मरों का शोक करते हैं और न जीवितों का। अर्थात् ज्ञानी पुरुष इनकी परवाह नहीं करते।

**न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।**
**न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥३५॥**

यह नहीं कि मैं और तू और ये राजा लोग पहले नहीं थे और यह भी नहीं कि हम सब इसके पश्चात् नहीं रहेंगे। अर्थात् ऐसा कोई समय नहीं था जब हम सब लोग नहीं थे और न ही कोई ऐसा समय होगा जब हम नहीं रहेंगे।

रामानुज ने इस श्लोक की टीका में लिखा है, "इस श्लोक से

सिद्ध है कि 'मैं' अर्थात् परमेश्वर, 'तू एवं राजा लोग' अर्थात् अन्यन्या आत्मा, दोनों यदि पहले (अतीत काल में) थे और आगे भी रहेंगे तो परमात्मा और जीवात्मा—दोनों ही पृथक्, स्वतन्त्र तथा नित्य हैं।" इस श्लोक में गीताकार ने जीवात्माओं के नित्यत्व का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख करने के साथ-साथ 'इमे', 'वयम्' आदि बहुवचनान्त प्रयोगों से उनके अनेक होने की भी पुष्टि कर दी है। यही नहीं, 'त्वम्', 'अहम्' तथा 'इमे' का प्रयोग किए जाने से सबका परस्पर भेद भी स्पष्ट कर दिया है।

**देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।**
**तथा देहान्तर प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥३६॥**

जिस प्रकार जीव को इस देह में क्रम से कौमार, यौवन तथा जरा (वृद्धावस्था) की प्राप्ति होती है, वैसे ही मृत्यु होने पर अन्य देह की प्राप्ति होती है। इसलिए इस विषय में धीर पुरुष (ज्ञानी) को मोह नहीं होता।

**अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः।**
**अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥३७॥**

नित्य, अविनाशी, अप्रमेय, शरीरधारी जीवात्मा के ये देह अन्त वाले (नश्वर) हैं। इसलिए, हे अर्जुन, तू युद्ध कर। हत्या के पाप के डर से अर्जुन युद्ध में प्रवृत्त होने में हिचक रहा था। इसलिए श्रीकृष्ण ने यहाँ शरीर की नश्वरता और जीवात्मा की अमरता को स्पष्ट करके उसे इस भय से मुक्त करने का प्रयास किया।

अगले मन्त्र में भी इसी पर बल देते हुए कहा—

**न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।**
**अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥३८॥**

यह (जीवात्मा) न कभी उत्पन्न होता है और न कभी मरता है। यह होकर न रहेगा, ऐसा भी नहीं है। यह अजन्मा, नित्य, सनातन और शाश्वत है। शरीर के मारे जाने पर भी वह नहीं मारा जाता।

**वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।**
**तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥३९॥**

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्र धारण कर लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा पुराने जीर्ण शरीर को त्यागकर नया शरीर धारण कर लेता है।

**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।**
**तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥४०॥**

जो उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का पुनर्जन्म भी निश्चित है। इस प्रकार जो अपरिहार्य है उस पर शोक करना तुझको उचित नहीं।

**स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।**
**धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥४१॥**

अपने धर्म (कर्त्तव्य) का विचार करके भी तुझे युद्ध से विचलित नहीं होना चाहिए। क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध से बढ़कर कल्याणकारी दूसरा कुछ नहीं है।

**अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।**
**ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥४२॥**

और यदि तू इस धर्मयुद्ध को नहीं करेगा तो स्वधर्म से च्युत होकर अपनी कीर्ति को खो बैठेगा और अपयश का भागी होगा।

**अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।**
**संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥४३॥**

और लोग सदा तेरे अपयश का कथन किया करेंगे। सम्मानित पुरुष के लिए उसकी अपकीर्ति मृत्यु से भी बढ़कर होती है।

उद्योगपर्व (७२।२४) में ऐसी ही बात युधिष्ठिर के लिए भी इन शब्दों में कही गई है—

**कुलीनस्य च या निन्दा वधोवाऽमित्रकर्षणम् ।**
**महागुणो वधो राजन् न तु निन्दा कुजीविका ॥**

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥४४॥

महारथी लोग तुझे डर के मारे युद्ध से भागा हुआ मानेंगे, जिनसे कभी सम्मानित हुआ तू अब तुच्छता को प्राप्त होगा ।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥४५॥

तेरे शत्रु अनेक प्रकार से न कहने योग्य बातें कह-कहकर तेरे सामर्थ्य का उपहास करेंगे । तेरे लिए इससे बढ़कर दुःख और क्या होगा ?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्से महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥४६॥

(युद्ध में) यदि तू मारा जायेगा तो स्वर्ग को जायेगा और जीत जायेगा तो धरती का राज्य भोगेगा । इसलिए, हे अर्जुन, युद्ध करने का निश्चय करके उठ ।

सुख-दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥४७॥

सुख-दुःख, हानि-लाभ, हार-जीत को समान समझकर (निष्काम भाव से) युद्ध कर । ऐसा करने पर तुझे पाप नहीं लगेगा ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म फलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोस्त्वकर्मणि ॥४८॥

तेरा अधिकार कर्म करने में ही है, उसका फल पाने में नहीं । कर्म न करने में भी तेरी आसक्ति नहीं होनी चाहिए ।

यह सोचकर कि जब कर्मफल मेरे वश में नहीं तो कर्म करने का क्या लाभ, कर्ममात्र से विरत नहीं होना चाहिए ।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥४९॥

समस्त कर्मों को मेरे ऊपर डालकर, अध्यात्मचित्त हो, फल की

आशा और ममता का परित्याग करके निश्चिन्त होकर युद्ध कर।

**स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।**
**कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि सन् ॥५०॥**

हे कौन्तेय! जिस काम को तू मोहवश करना नहीं चाहता, वही तुझे विवश होकर स्वभाववश करना पड़ेगा।

**यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।**
**मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५१॥**

अहंकार से तेरा यह मानना कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, व्यर्थ का निश्चय है, क्योंकि प्रकृति अर्थात् स्वभाव तुझसे यह युद्ध करायेगा। इसलिए—

**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**
**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥५२॥**

सब धर्मों (कर्त्तव्याकर्त्तव्य की चिन्ता) को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा, तू चिन्ता मत कर।

पापों से मुक्त कैसे कर देगा? ईसामसीह की तरह परमेश्वर दूसरों के पाप को अपने ऊपर नहीं ले सकता, क्योंकि पहले स्पष्ट शब्दों में कह चुके हैं—'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः' (५।१५) सर्वव्यापी परमेश्वर किसी के पाप-पुण्य को नहीं लेता। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' तथा 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' इत्यादि जैसे सर्वशास्त्रानुमोदित सिद्धान्त के रहते परमेश्वर पापों से मुक्त करने या क्षमा देने में नितान्त असमर्थ है। यदि वह ऐसा करने लगे तो सारी न्याय-व्यवस्था चौपट हो जाये। यदि अपवादरूप में यह अर्जुन के लिए अपने नियम को शिथिल कर दे तो वह भाई-भतीजावाद (अर्जुन, कृष्ण की बुआ कुन्ती का पुत्र था) का दोषी सिद्ध हो। फिर, श्रीकृष्ण ने ऐसा क्यों कह दिया? हम समझते हैं कि अन्य अनेक अवसरों की तरह यह भी कृष्ण की कूटनीतिक

चाल थी। लम्बी-चौड़ी बातें करने का यह अवसर नहीं था। उस विषम परिस्थिति में बात को समाप्त कर अर्जुन को निश्चिन्त होकर लड़ने के लिए ही ऐसा कह दिया गया।

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ने पूछा—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ॥५३॥

हे अर्जुन ! क्या तूने यह सब एकाग्रचित से सुना ? क्या तेरा अज्ञान और मोह नष्ट हो गये ?

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥५४॥

इस पर अर्जुन ने कहा—हे अच्युत कृष्ण ! मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे अपने कर्त्तव्य का स्मरण (बोध) हो गया। आपकी कृपा से मेरे सन्देह निवृत्त हो गये। अब जैसा आप कहेंगे, वैसा ही करूँगा।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥५५॥

इस प्रकार मैंने महात्मा कृष्ण और अर्जुन के रोमांचकारी संवाद को सुना।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थोधनुर्धरः।
तत्र श्रीविजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥५६॥

जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और धनुर्धारी अर्जुन हैं, वहाँ लक्ष्मी, विजय, ऐश्वर्य और अटल नीति है, यह मेरी सम्मति है।

□□□

ॐ

# जरा सोची

क्रोध बुध्दि को खा

घमण्ड ज्ञान को खा

प्रायश्चित पाप को खा

लालच इमान को खा जाती है

रिश्वत इन्साफ को खा जाती है

चिन्ता आयु को खा जाती है